पाठ्य-पुस्तकों का प्रकार्य

❑ राजाराम भादू

पाठ्यपुस्तकों के बिना हम बच्चों के सीखने-सिखाने की कल्पना नहीं कर पाते हालांकि कुछ शिक्षाविदों की राय में पाठ्यपुस्तकों के बगैर भी शिक्षण कार्य संभव है। ऐसा मानने वाले लोग पाठ्यपुस्तकों के प्रचलित स्वरूप को भले ही नकारें लेकिन ये तो उन्हें भी मानना पड़ेगा कि शिक्षण-प्रक्रिया में किसी न किसी पाठ्य-सामग्री का उपयोग तो करना ही होगा । शिक्षा जगत में सर्वमान्य रूप से पाठ्यपुस्तकों को सीखने-सिखाने के साधन के रूप में स्वीकारा गया है। शिक्षण-प्रक्रिया में पाठ्यवस्तु की उपयोगिता अपरिहार्य है ।

समस्या तब खड़ी होती है जबकि पाठ्यपुस्तकों को शिक्षण में साधन की जगह साध्य मान लिया जाता है । ऐसा मान लेने का एक स्वाभाविक परिणाम यह निकलता है कि शिक्षण-प्रक्रिया में पाठ्यपुस्तकों का वर्चस्व स्थापित हो जाता है ।

दुर्भाग्य से हमारे देश की सरकारी शिक्षा-प्रणाली में यही स्थिति है । यहां शिक्षा के मूल उद्देश्यों को ही पाठ्यवस्तु में रूपान्तरित करने की चेष्टा की जाती रही है । बच्चे के लिए इस पाठ्यवस्तु को आत्मसात (?) करना उसके सीखने का ध्येय है। पाठ्यपुस्तकों में वर्णित पाठ्यवस्तु का स्मरण कर अथवा उनमें दिये गये अभ्यास प्रश्नों का हल सीखकर वह इस ध्येय की पूर्ति कर सकता है । बच्चे की सफलता-असफलता का मूल्यांकन करने वाली परीक्षा-प्रणाली भी पूर्णत: पाठय-पुस्तक आधारित है । इस स्थिति के चलते शिक्षा में पाठ्य-पुस्तकों की सर्वोपरि महत्ता बरकरार है।

भारतीय समाजों में शिक्षा की स्थिति पहले ही संतोषजनक नहीं है। यहां निरक्षर समुदाय सदियों से मौखिक व्यवहार पर निर्भर रहे हैं । ज्ञान और अनुभव (जानकारियां व सूचनाएं) के परस्पर संचरण का एक मात्र तरीका श्रुति-स्मरण परंपरा रहा है। इस प्रक्रिया में स्मृति ने निसंदेह अत्यंत अहम् भूमिका निभायी है । दुनिया के तमाम अन्य विकासशील समुदायों की भांति यहां भी किसी अन्तर्वस्तु के प्रारंभिक लिखित स्वरूप धार्मिक साहित्य के रूप में मिलते हैं । चूंकि इन समुदायों में उस समय धर्म को सर्वोच्चता हासिल थी तो उसकी मुद्रित अन्तर्वस्तु को भी एक विशिष्ट महत्ता और पवित्रता स्वत: मिल गयी । इस मुद्रित सामग्री का पाठ करने की क्षमता भी शुरू में कुछ ही लोगों को और विशेष रूप से पुरोहित वर्ग को हासिल थी, उन्होंने भी अपनी स्थिति का लाभ उठाया । इन ग्रन्थों के पाठ करने के कार्य को उन्होंने अपने विशेषाधिकार के रूप में स्थापित कर लिया । कालान्तर में अपनी अज्ञानता अथवा निहित स्वार्थों के चलते वे मुद्रित अन्तर्वस्तु की मनमानी व्याख्याएं करने लगे। तदन्तर मध्यकालीन शासकों ने अपने शासनालेख, यशोगाथा या जीवनियों को लिपिबद्ध कराना शुरू किया ।

भारतीय समुदायों में यह स्थिति विगत शताब्दी तक बनी रही है । मुद्रित अन्तर्वस्तु के प्रति आतंक भाव भी पाया जाता है जो ब्रिट्रिश औपनिवेशिकता की देन है । अंग्रेज शासकीय भाषा के रूप में अंग्रेजी का इस्तेमाल करते थे जिसे जानने वाले मुट्ठी भर भारतीय थे । उन्होंने अपनी इस स्थिति का लाभ उठाया । सरकारी कामकाज में प्रयुक्त होने वाली विशेष तरह की उर्दू के संदर्भ में भी कुछ-कुछ ऐसी ही स्थिति रही। मुद्रित अन्तर्वस्तु के प्रति पवित्रता और सम्मान

अथवा आतंक के भावों की झलक आज भी निरक्षर देहाती समुदायों में देखी जा सकती है । इस प्रकार वृहद भारतीय समाज में संस्कृति और ज्ञानानुभव की मौखिक परम्परा पर छपी सामग्री की प्रभाविता शैक्षिक पाठ्य-पुस्तकों को विरासत में मिली । इन पाठ्य-पुस्तकों के निर्माण में उन जन समुदायों की कोई प्रत्यक्ष या परोक्ष भागीदारी भी नहीं रही, जिनके बच्चों के लिए इन्हें तैयार किया गया था । पाठ्य पुस्तकों के निर्माता बहुधा ज्ञान और अनुभव की उन मौखिक धाराओं से भी अनभिज्ञ थे जो इन समुदायों की सांस्कृतिक पूंजी थी । नतीजन शिक्षितों (?) की दुनिया की सूत्रबद्ध शैक्षिक विषयवस्तु इन पाठ्यपुस्तकों के जरिये इन समुदायों की नयी पीढ़ी पर थोप दी गयी । बच्चों में स्मृति के उपयोग की दीर्घकाल से चली आ रही प्रवृत्ति प्रयुक्त की गयी शिक्षण-विधि के अनुकूल पड़ती थी। इसी के साथ पाठ्यपुस्तक निर्माताओं ने शिक्षातंत्र में खुद भी पुरोहितों जैसा विशिष्ट दर्जा हासिल कर लिया ।

लेकिन मामला यहीं तक सीमित नहीं रहा । चूंकि बच्चों को शिक्षा उपलब्ध कराना संविधान के अनुसार राज्य का उत्तरदायित्व था और इस जिम्मेदारी को केन्द्र व राज्य सरकार को समान रूप से पूरा करना था। प्रजातांत्रिक प्रणाली में बहुमत वाला राजनीतिक दल सत्ता संचालन करता है। ये देखने में आया है कि जन समुदाय को प्रभावित करने वाले शासन तंत्र के निकायों में सत्ताधारी दल का विशेष हस्तक्षेप होता है। शिक्षा तंत्र नयी पीढ़ी के व्यक्तित्व और चेतना को गढ़ने का प्रक्रम है। प्रथम तो राज्य सत्ता शिक्षा के लक्ष्य को ही कुछ इस तरह निर्धारित करती है जिसमें नागरिक के लिए राज्य के हित सर्वोच्च होते हैं । दूसरे, सत्ताधारी राजनीतिक दल शिक्षातंत्र को अपनी नीति और मान्यताओं को प्रचारित -प्रसारित करने के लिए उपयोग करने का प्रयास करता है । यह प्रयास बडे स्तर पर सामान्यत: शिक्षक-प्रशिक्षण के पाठ्यक्रम और बच्चों की पाठ्यपुस्तकों में हस्तक्षेप के द्वारा किया जाता है । पाठ्यक्रम और पाठ्यपुस्तकों में ऐसी चीजों को समाविष्ट किया जाता है जिनसे बच्चों का खास तरह अनुकूलन किया जा सके अथवा उन पर अपने मूल्य-मान्यताओं का आरोपण किया जा सके । ऐसा हस्तक्षेप ज्यादा बढ़ता है तो पाठ्यपुस्तकें खास धारणाओं और पूर्वाग्रहों की संवाहक बनकर रह जाती है। कहना न होगा कि हमारी सरकारी कही जाने वाली पाठ्य-पुस्तकों से ऐसी शिकायतें आम रही हैं ।

सैद्धांतिक रूप से देखें तो शिक्षाक्रम, शिक्षण विधियां और पाठ्यपुस्तकें क्रमिक रूप से मूलत: शिक्षा दर्शन की तार्किक फलश्रुतियां हैं । यदि हम शिक्षा को सीखने की ऐसी सामर्थ्य विकसित करने की प्रक्रिया के रूप में देखते हैं जो जीवन-पर्यन्त पुनर्नवा होती रहे, तो पाठ्य-पुस्तकें शिक्षाक्रम से इस प्रकार रुपायित होंगी कि ये किसी विषय-क्षेत्र की दिशा में सीखने के रास्ते खोलती चलें । साथ ही पाठ्यपुस्तकों का स्वरुप भी विषय की विशिष्ट प्रकृति के अनुरुप होगा। उदाहरण के लिए भाषा-शिक्षण को दोहरे कार्यभार के रूप में देखा जायेगा । बच्चे की भाषिक क्षमताओं और कौशल का इस प्रकार विकास और संवर्द्धन हो कि वह अर्जित ज्ञान का संवहन कर सके, साथ ही उसकी उचित भाषिक अभिव्यक्ति कर सके। भाषा को लेकर इस समझ के पीछे यह वैज्ञानिक सिद्धांत है कि व्यक्ति की चिंतन-प्रणाली और धारणाएं व प्रत्यय भाषा में ही विनिर्मित होते हैं । इस समझ के चलते भाषा-शिक्षण किसी भाषा विशेष पर शिक्षार्थी का अधिकार होने तक सीमित नहीं हो सकता । उसे स्वाध्याय द्वारा ज्ञान के विभिन्न क्षेत्रों में सीखना भी आना चाहिए । पढ़ने की आदत शिक्षार्थी के लिए ज्ञान-निर्माण की प्रक्रिया बने तो भाषा-शिक्षण का मंतव्य पूरा होता है। किसी भाषा विशेष के साहित्य का आस्वादन इसका एक आयाम भर हो सकता है।

इसी तरह हम इतिहास की पाठ्यपुस्तकों पर बात कर सकते हैं। सामान्यत: भाषा और इतिहास की पुस्तकों में पूर्वाग्रहों और मान्यताओं के आरोपण की प्रवृत्ति ज्यादा देखी जाती है। इतिहास की पाठ्यपुस्तकों में कई बार जातीय गौरव को बढ़ा-चढ़ा कर दिखाया जाता है । अथवा किसी समुदाय या व्यक्ति विशेष का महिमामंडन किया जाता है। ऐतिहासिक जय-पराजयों में तथ्यों का घालमेल होता है। जर्मेन ग्रीयर लिखती हैं : ''अच्छा और सही व्यक्ति जीत जायेगा, यह मान लेना कतई न्यायसंगत नहीं है । यह तर्क भी दिया जा सकता है, कि सबसे बुरा, सबसे सिद्धांतहीन व्यक्ति जीतेगा, हालांकि इतिहास उसे आखिर सबसे श्रेष्ठ साबित कर देने का अनर्गल खेल खेलता रहेगा । '' इतिहास शिक्षण इतिहास लेखन की प्रक्रिया की समझ बनाने पर ही उपयुक्त हो सकता है। प्रामाणिक ऐतिहासिक तथ्यों की खोज, उनका ठीक तरह से संयोजन और विश्लेषण कर वस्तुपरक निष्कर्ष निकालने की समस्त कार्यवाही के बारे में ठीक से जान लेने के बाद बच्चे इतिहास के विभ्रमों से शायद बच पाने में अधिक समर्थ हों । दूसरे विषय-क्षेत्रों में भी इसी प्रकार तर्क संगत और आलोचनात्मक दृष्टिकोण की आवश्यकता है ।

बच्चे के व्यक्तित्व विकास के प्रसंग में तो पाठ्यपुस्तकों की सीमा और भी उजागर हो जाती है। मसलन यदि बच्चों को नैतिक मूल्यों के बारे में शिक्षित करना है तो क्या पाठ्यपुस्तक में इन मूल्यों की विस्तृत सूची छापकर और इन्हें बच्चों को रटाकर उद्देश्य की पूर्णता मानी जा सकती है। यदि ऐसा माना गया तो ये तो मूल उद्देश्य की इतिश्री ही होगा । जब तक बच्चा मूल्य की आवश्यकता व औचित्य को ठीक से समझते हुए स्वीकार कर इन्हें व्यवहार में प्रयुक्त नहीं करता, मूल्य-शिक्षण अपूर्ण होगा । तब पाठ्यपुस्तकों में मूल्यों की सूची भर न होकर भिन्न प्रसंग और वृत्तान्त प्रस्तुत करने होंगे ।

अब तक कही बातों से यह अर्थ कतई नहीं निकलता कि पाठ्यपुस्तकें अपने आप में कम महत्वपूर्ण हैं। असल में शिक्षादर्शन, शिक्षाक्रम, शिक्षण-विधियों और पाठ्यपुस्तकों में कोई प्राथमिकता क्रम निर्धारित करना एक बेमानी उपक्रम है। यह इतना ही निरर्थक है जितना कि शिक्षक या बच्चों में किसी वर्ग की अधिक महत्ता स्थापित करना । कहना यही है कि पाठ्य पुस्तकें ऐसी हों कि बच्चे को स्वतंत्र अध्येता के रूप में विकसित करने में सहायक हों । पाठ्यपुस्तकों की ससफलता का एक मापदण्ड यह हो सकता है कि ये बच्चों को पुस्तकों के असीमित संसार की ओर ले जायें ताकि सीखना उनके लिए जीवन्तपर्यन्त चलने वाली एक सतत् प्रक्रिया बन सके । निश्चय ही ऐसी पाठ्यपुस्तकें तैयार करना एक चुनौती भरी किन्तु अनिवार्य कार्यवाही है जिसे टालना कभी भी सही नहीं ठहराया जा सकता । ◆